॥ ओ३म् ॥

ईशोपनिषद्

व्याख्याकार- पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी

संस्करण-प्रथम
सम्वत्-२०७१ विक्रमी (जून 2014)
मूल्य :- १० रु०

प्रकाशकः- आर्य समाज, सैक्टर-23,24 रोहिणी दिल्ली-85
सम्पर्क सूत्र-9350945482, 9810485231

॥ ओ३म् ॥

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी-एक परिचय

एक छोटी-सी जीवन यात्रा में इतने महानता के कार्य कर जाना और कालरूपी रेत पर अपने पद-चिन्ह छोड़ जाना न तो सामान्य बुद्धि के बस की बात है और न ही सामान्य पुरुषार्थ से संभव है। 26 वर्ष से भी कम आयु जिसकी रही हो वह अपने जीवन को इतनी ऊँचाईयों तक पहुँचा दे और वह भी तब जबकि जीवन के पिछले कुछ समय में रोग के कारण संभवत: पूर्ण सामर्थ्य न लगा पाए हों। परन्तु यह भी तो हो सकता है कि अत्यधिक पुरुषार्थ और सामर्थ्य के लगने के कारण मृत्यु और निकट आ गई हो और रोग की तीक्ष्णता बढ़ गई हो, लगता तो ऐसा ही है। और उस महामानव के कार्यों में दिखावा तो नाम का भी न था। उनकी प्रत्येक बात स्वाभाविक थी, जिससे यही लगता है कि उनकी महत्ता वास्तविक, यथार्थ व ईश्वरीय देन थी। अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भ में ही उन्हें इंग्लैण्ड तक के वे विद्वान् जान गए थे जो अपने-आप को पूर्वीय विद्याओं का पण्डित कहते थे। उनकी प्रतिभा इतनी प्रखर थी कि विद्या की शायद ही कोई ऐसी शाखा होगी जिसकी ओर गुरुदत्त विद्यार्थी ने ध्यान न दिया हो-संस्कृत, अरबी, पदार्थ विज्ञान, भूगर्भ विद्या, रसायन शास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, शरीर शास्त्र, नक्षत्र विद्या, गणित, तत्वज्ञान, भाषातत्व शास्त्र-इन सब में और कई औरों में भी वे अच्छे ज्ञानकार ज्ञात होते थे और जो लोग उनके पास शंका समाधान के लिए जाते थे, उनके पाण्डित्य को देखकर चकित रह जाते थे।

उनका जन्म 26 अप्रैल 1864 को मुलतान में हुआ। उनके पिता लाला रामकृष्ण पंजाब के शिक्षा विभाग में एक प्रतिष्ठित अध्यापक थे।

उनकी बुद्धि बड़ी तीव्र और स्मृति बड़ी दृढ़ थी। बड़ी आयु में संस्कृत का अध्ययन आरम्भ करने पर भी उन्होंने उस पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। गुरुदत्त विद्यार्थी की माताजी स्वभाव से ही धार्मिक और उदार थी। गुरुदत्त को भी माता-पिता के संस्कार (गुण) विरासत में मिले थे। उनमें संकल्प की दृढ़ता, दृष्टि की तीक्ष्णता और बुद्धि की सूक्ष्मता पिता से तथा धैर्य व संयम माता से प्राप्त हुआ। पांच वर्ष की आयु से पहले ही उनके पिता ने उनकी शिक्षा घर पर ही प्रारम्भ कर दी थी और आठ वर्ष की आयु में झंग स्कूल में भर्ती करवा दिया, जहाँ उनके पिता स्वयं अध्यापक थे। असाधारण तीव्र बुद्धि रखने के कारण वे अपनी श्रेणी के अच्छे लड़कों में से थे और परीक्षा में सदा उच्च स्थान पर रहते थे। मुलतान में कोई ऐसा पुस्तकालय न था जिसमें वे ज्ञान वृद्धि के लिए न गए हों। अपनी कक्षा के विषयों के अतिरिक्त अनेक पुस्तकें पढ़ते थे जो विभिन्न गूढ़ विषयों से सम्बन्ध रखती थी। वे ज्ञान के बड़े जिज्ञासु थे और हाई स्कूल के दिनों में अंग्रेज विद्वानों के ग्रन्थों के पाठ और मनन से उनके पुराने विश्वास हिल गए। उन्होंने देखा कि जो फारसी ग्रंथों के पाठ उन्होंने पढ़े थे और जिन हिन्दू विचारों के अन्दर उनका पालन पोषण हुआ था, वे बहुत ज्यादा कल्पनात्मक और अयुक्त हैं। वे संशयात्मन् हो गए, यहाँ तक कि परमात्मा के अस्तित्व में भी संदेह करने लगे। ऐसे समय में जबकि पाश्चात्य सभ्यता की लहर प्रत्येक पदार्थ को बहाती हुई ले जा रही थी, जब फलतः लोग बड़ी संख्या में ईसाई मत को ग्रहण कर रहे थे और जब जनता के अन्दर भारी अशान्ति फैल रही थी, एक शक्तिशाली सुधारक का आगमन हुआ। उसके प्रादुर्भाव ने इस क्रम को पलट कर रख दिया। मुसलमान, ईसाई और हिन्दू जो भी उस के साथ शास्त्रार्थ करने और उसके बतलाए हुए धर्म की वृद्धि को रोकने के लिए आगे आए, उनमें से प्रत्येक को हार मानकर भागना पड़ा। जिस धर्म का वह जनता को उपदेश

देता था वह बड़ा ही पवित्र, उच्च और आत्मा को उत्साह देने वाला था, उस में असत्य लेशमात्र भी न था। ज्यों ही इस धर्म के आदर्श और सच्चाईयां लोगों के सामने रखी गईं तो लोगों ने उन्हें उत्सुकता के साथ ग्रहण कर लिया, और वह सुधारक थे स्वामी दयानन्द। गुरुदत्त भी वैदिक धर्म की और आकृष्ट हुए और उन की जिज्ञासु क्षमताएं वहां तृप्त हो गईं। वे 20 जून 1880 को आर्य समाज में प्रविष्ट हुए।

गुरुदत्त ने नवम्बर 1880 में एन्ट्रैस पास कर लिया और जनवरी 1881 में गर्वमेन्ट कॉलेज लाहौर में पढ़ने के लिए चले गए। कॉलेज में भर्ती के होने के थोड़े ही समय पाश्चताप उन्होंने कई महत्वपूर्ण और गूढ़ विषयों पर लेख लिखे जो उनके भाव की धीरता, विचारों की निर्दोषता और तत्वज्ञान की जटिल संस्थाओं पर अधिकार को दर्शाती है, ऐसे गुणों का पाया जाना सामान्य बात नहीं है। वे मई 1883 में एफ.ए.की परीक्षा में बैठे, उनके सहपाठी लाला लाजपतराय के अनुसार उन्होंने गुरुदत्त को घर पर कभी कॉलेज की पुस्तकें पढ़ते नहीं देखा था, फिर भी वे परीक्षा में प्रथम रहे। 1885 में उन्होंने बी.ए. की परीक्षा पास की और 1886 में एम. ए. की परीक्षा पदार्थ-विज्ञान में उत्तीर्ण की और गर्वमेन्ट कॉलेज लाहौर में साईन्स के सहायक प्रोफेसर नियुक्त हुए। 1887 में मिस्टर ओमन के छुट्टी पर चले जाने पर वे साइन्स के प्रोफेसर के तौर पर काम करने लगे। इस प्रकार गुरुदत्त ने आधुनिक विद्या में भी ऊँचे आयाम छूए।

प्रतिभाशाली होने के कारण गुरुदत्त ज्ञान सागर में गहरा गोता लगाया करते थे और सभी उपर्युक्त सुअवसरों ने उनकी बुद्धि और चरित्र पर बड़ा उत्कर्षकारी प्रभाव डाला। उनकी बुद्धि जगदीश्वर के अस्त्वि में विश्वास नहीं करती थी, यद्यपि उनकी आध्यात्मिक प्रकृति और नैतिक गुण, जो उच्च और श्रेष्ठ थे, जगत्पिता के अस्तित्व की प्रबल साक्षी देते थे। उनका हृदय परमात्मा और उसके उपकार और दया में दृढ़ विश्वास

रखता था, लेकिन उनकी बुद्धि हृदय की आज्ञाओं को स्वीकार नहीं करती थी। इसी समय एक ऐसी घटना हुई जिसने उनके जीवन की गति को बिल्कुल बदल दिया। स्वामी दयानन्द मृत्यु शैय्या पर पड़े थे और लाहौर आर्य समाज से लाला जीवनदास और पण्डित गुरुदत्त अजमेर पहुँचे। इसी से उनके जीवन ने पलटा खाया और आर्य समाज के इतिहास में एक भारी युग का आरम्भ हुआ। ऋषि दयानन्द उस असाधारण कष्ट में भी उफ तक नहीं कर रहे थे और पूर्णरूप से शान्तचित्त थे। कष्ट और परिताप का वहां चिन्ह मात्र भी न था। पण्डित गुरुदत्त जैसे तीव्र बुद्धि और शीघ्रग्राहक मनुष्य के लिए वस्तुतः यह एक विस्मयोत्पादक दृश्य था। इस समय उन्होंने अपने जीवन-काल में पहली बार एक आदर्श संस्कारक को देखा था। भयंकर शारीरिक पीड़ा होते हुए भी किस प्रकार एक आत्मा, परमात्मा से मिलने को उत्सुक और उल्लसित थी। पण्डित गुरुदत्त यह सब देखते रहे। तब उनके अन्दर परिवर्तन पैदा हुआ। उनके मन में नास्तिकता का अन्तिम अवशेष नष्ट हो गया। उनकी सारी प्रकृति रूपान्तरित होकर एक उच्चतर वस्तु बन गई। उनके सभी संशय दूर हो गए और एक नवीन मनुष्य बन गए। उन्होंने देखा कि सत्य के लिए जीवन जीने वालों को मृत्यु से कोई डर नहीं लगता। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश को अनेकों बार पढ़ा और कहा कि हर बार मुझे मन और आत्मा के लिए कुछ न कुछ नवीन भोजन मिलता है।

उन्नीस वर्ष का यह युवक जब अजमेर से वापस लाहौर पहुँचता है तो जीवन के लक्ष्य को निर्धारित कर चुका होता है। लाहौर में आने के पश्चात् 8 नवम्बर 1883 ई. को जनता के सामने दयानन्द की स्मृति में एक कॉलेज की स्थापना का प्रस्ताव रखा। उन्होंने कॉलेज के लिए धन एकत्रित करने के लिए अथक प्रयास किया। उनके व्याख्यान बहुत ही प्रभावशाली होते थे, वे हृदय की गहराई से बोलते थे और लोग कॉलेज के

लिए धन देने को तैयार हो जाते थे। इसके लिए वे अनेक स्थानों पर गए। इसी दौरान उन्हें अपने पिता की बिमारी से भी जूझना पड़ा और इसके कारण समाज के काम में बाधा उत्पन्न होने पर उनका मन बड़ा खिन्न होता था। लाला लाजपतराय को अपने एक पत्र में लिखते हैं "पिता के प्रति कर्त्तव्य और देश के प्रति कर्त्तव्य के बीच झगड़ा हो गया है। मन किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहा है।" इन सब व्यस्तताओं और सामाजिक कोलाहल के होते हुए भी गुरुदत्त की आत्मा ऊँची और ऊँची होती जा रही थी। वे वैदिक धर्म की गहरी सच्चाईयों को अपने अन्दर ग्रहण कर रहे थे। आध्यात्मिक व बौद्धिक दोनों ही क्षेत्रों में वे निरन्तर आगे बढ़ रहे थे। **वे** अनेक ग्रन्थों का ज्ञान अर्जित कर चुके थे। व्याकरण पढ़ाने के लिए कक्षाएं लगाते थे। धारा प्रवाह संस्कृत बोलना सीख गए थे। 1883 का वर्ष तो उनके लिए विशेष रहा। मोनियर विलियम्स की "इण्यिन विजडम" पर दोषालोचनात्मक व्याख्यान दिए, स्वर विद्या का अध्ययन किया, वेदमन्त्रों के उच्चारण करने की शुद्ध रीति जारी की। अपने जीवन के छोटे से काल में उनका इतना विस्तृत ज्ञान सम्पादन कर लेना सदा एक आश्चर्य और प्रशंसा का विषय बना रहेगा। उनकी वक्तृता की झलक देखने के लिए उनके एक व्याख्यान के कुछ अंश उद्धृत हैं "आधुनिक विज्ञान चाहे उसमें कितने ही गुण क्यों न हों, जीवन की समस्या पर कुछ भी प्रकाश नहीं डालता। वह मनुष्य के आत्मा में आन्दोलन पैदा करने वाले सबसे महान और कठिन प्रश्न-मनुष्य जाति के आदिमूल और इसके अन्तिम भाग्य के हल करने में कुछ भी सहायता नहीं करता।.....यह समस्या वेदों की सहायता के बिना हल नहीं की जा सकती। वही केवल इस अद्भुत रहस्य का उद्घाटन कर सकते हैं और उन्हीं की और वैज्ञानिक लोगों को अन्त में आना पड़ेगा।....लोक परलोक दोनों का ही सुख वेदों के अध्ययन का फल है।...सच्चाई का वही नित्य सूर्य पुनः प्रकट हो गया है। इसमें मूढ़

विश्वास के बादलों को सर्वथा छिन्न-भिन्न कर दिया है। संसार पर छाया हुआ अशुभ अन्धकार टूट गया है और भास्कर पहले के से तेज के साथ पुनः चमक रहा है। यह सुखद अवस्था स्वामी दयानन्द के परिश्रम का ही फल है।.....**जिन लोगों की आत्माएं मूढ़ विश्वास के अन्धकार से बाहर निकल चुकी हैं उन सब का यह परम कर्त्तव्य है कि वे संशयात्मक लोगों के संशय की और धर्मान्ध तथा दुराग्रही लोगों की धर्मान्धता तथा दुराग्रह की चिकित्सा करें"।**

स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के अध्ययन ने उनके मन पर अद्‌भुत प्रभाव पैदा किया था। धीरे-धीरे उनके विचार बड़े ही शान्त और संयत हो गये थे, उनका मन स्थूल बातों को छोड़कर सूक्ष्म बातों की ओर जाता था। आत्मिक उन्नति ही उनके प्रयत्नों का मुख्य उद्देश्य बन गई थी। परिश्रम दिन प्रतिदिन बढ़ता चला गया। शरीर की क्षमताएं कम होती चली गई। रोग ने घेर लिया। लेकिन वो फिर भी और अधिक कार्य में लगे रहे जैसे कि अपनी मृत्यु से पहले कार्य को समाप्त कर देने के लिए प्रयत्नशील हों, हड्‌डियों का केवल ढ़ांचा मात्र रहने पर भी सार्वजनिक हित के वाद-प्रतिवाद में निरन्तर भाग लेते थे। शारीरिक कष्ट की परवाह न करना उनका चिराभ्यस्त दोष था। वे ऐसा अदूरदर्शिता या ऐसे कामों के परिणाम से अनभिज्ञ होने के कारण नहीं अपितु भीतर से एक प्रबल आवेग के कारण करते थे। उनकी शक्ति दिन प्रतिदिन घट रही थी, वे क्षीण और क्षीण होते जा रहे थे। चिकित्सा भी करवाई गई। परन्तु रोग निरन्तर बढ़ता चला गया। कष्ट के समय में भी वे शान्त थे। जैसे परमपिता से मिलने को उत्सुक हों।

19 मार्च 1890, प्रातःकाल वे अपने शरीर को त्याग गए। रोग से मुक्त हो गये, लेकिन आर्य समाज के गगनमण्डल में एक अभेद्य अंधकार छोड़ गए। एक मनुष्य, एक असाधारण मनुष्य, एक अलौकिक मनुष्य,

संस्कृत विद्या का एक सच्चा और अद्वितीय पण्डित–प्राचीन ऋषियों का एक सच्चा वंशज–इस संसार से उठ गया। उसका लक्ष्य बहुत उच्च था, वह गौतम, पतञ्जलि, व्यास, याज्ञवल्क्य और स्वामी दयानन्द को अपना आदर्श समझते थे। आर्यों, 26 वर्ष से भी कम आयु में हम ऐसे प्रतिभावान युवक को खो बैठे। पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी रोज–रोज पैदा नहीं होते। हमें सावधानी से चलने की आवश्यकता है। वे हमें बहुत कुछ दे गए लेकिन उनकी असमय मृत्यु के कारण हम बहुत कुछ प्राप्त करने से वंचित रह गए। हमें वर्तमान में भी अपने विद्वान्, पुरुषार्थी, प्रतिभावान, मार्गदर्शक, प्रेरणास्रोतों को रक्षित करके आगे बढ़ना होगा अन्यथा बहुत कुछ प्राप्त करने से हम फिर वंचित रह जाएंगे।

इस व्याख्या की विशेषता यह है कि इसमें गुरुदत्त विद्यार्थी द्वारा उपनिषद् के व्यवहारिक पक्ष को प्रस्तुत किया गया है जिससे कि हम उपनिषद् के दिए गए सन्देश का न केवल आध्यात्मिक जीवन में लाभ उठा सकते हैं बल्कि उसे सामान्य व्यवहार में लाकर अपने जीवन को उपयोगी बना सकते हैं, धर्म के वास्तविक स्वरूप को जान सकते हैं व उसे व्यवहार में ला सकते हैं। इसकी भाषा थोड़ी कठिन है क्योंकि गुरुदत्त विद्यार्थी अत्यन्त प्रतिभा के धनी थे। इसलिए इस व्याख्या को समझने में थोड़ा परिश्रम करना पड़ता है व कई बार अध्ययन आवश्यक है। लेकिन एक बार समझ में आने के बाद यह हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। ईशोपनिषद् हमारे आर्ष ग्रन्थों में एक उच्च कोटि का ग्रन्थ है अतः इसका समझना, जानना व जीवन में धारण कर उपयोगी बनाना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक व उपयोगी है। और इस कार्य में पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी की यह व्याख्या हमारे लिए सहायक सिद्ध होगी।

–आचार्य सतीश (रोहिणी, दिल्ली)

॥ ईशोपनिषद् ॥

ओम् ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥१॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः
समाभ्यः ॥८॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥९॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याꣳ रताः ॥१२॥

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः
सोऽहमस्मि ॥१६॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओम् क्रतो स्मर कृतꣳसमर क्रतो स्मर कृतꣳस्मर ॥१७॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी द्वारा
ईशोपनिषद् की धाराप्रवाह व्याख्या

धर्म का जो अर्थ इस समय समाज की वर्त्तमान स्थिति की दृष्टि से समझा जा रहा है वह बड़ा ही भ्रान्तिजनक है। जिन लोगों ने अपने जीवनों और आचरणों में नृशंस पाप, क्रूरता, दुर्दमनीय मनोविकार, प्रबल विद्वेष, और अक्षन्तव्य त्रुटियां दिखलाई हैं उनके करूणाहीन हृदयों से प्रायः अबुद्धिपूर्वक या अधिक से अधिक अर्धचेतन अवस्था में निकली हुई कुछ निर्दिष्ट वाक्यों की कृत्रिम प्रार्थनाएं अनुकरण, स्वभाव, लोकाचार, रीति, या समाज के भय से ग्रहण किए हुए मजबूरी व्यवहार, बहुमूल्य, निष्फल, तथा शक्ति और समय को नष्ट करने वाले अनुष्ठान, वे घोर अन्याय जो धर्मयाजकों और साम्प्रदायिक नेताओं ने परमेश्वर की दृष्टि में मनुष्यों की असमानतायें प्रतिष्ठित करते हुए किए हैं, इन और ऐसी ही और असंगतियों ने धर्म का नाम छीन रखा है। और संसार को दुःख, पाप, अपराध, युद्ध, और रक्तपात के दुर्दमनीय प्रवाह के साथ जलमय कर दिया है। धर्म का मुख पारस्परिक घृणा और पैशाचिक द्वेष की दृष्टियों से, प्रतिहिंसा और उच्चाकांक्षा की चपलता से, स्वार्थपर नेत्रों के चिन्तारञ्जित तेज से, असहिष्णुता की क्रोध से टूटी हुई ललाट से, और असत्य का विष खाई हुई कार्यशक्तियों की भयानक म्लीनता से सर्वथा कुरूप हो गया है।

तर्क और भक्ति को बुद्धि के सारे प्रदेश से निर्वासित कर दिया गया है। धर्म, मतों और सम्प्रदायों के केवल व्यवसाय का पर्यायवाची हो गया है। जीवनों को उत्तम बनाने और अनुग्रह के काम करने का स्थान केवल श्रद्धा ने ले लिया है। वचन ने कर्म का सिंहासन छीन लिया है। मूढ़विश्वास और पुराणशास्त्र ब्राह्माण्ड के रहस्यों का समाधान कर रहे

हैं। ये समाधान अल्फ लैला की कहानियों से कम मनोरञ्जक और उन से अधिक सच्चे नहीं। वेदान्त को इन समाधानों की किस्सागोई और झूठ घड़ने वाली मशीनरी के औचित्य की साक्षी के लिए बाध्य किया गया है। यथार्थता और निश्चय की जगह अनुमान और अटकल-पच्चू ने घेर ली है। सत्य घटनाओं के रूप में समाज पर स्वपन ठूँसे गये हैं। अलौकिक ब्रह्मविद्या, अद्भुत करामातें, और अस्वाभाविक सिद्धान्त निकालने के लिए कल्पना-शक्ति पर बल डाला गया है। मानवी प्रकृति को सर्वथा भ्रष्ट बताकर उसे कलङ्कित, अपमानित, और निन्दित ठहराया गया है। भविष्य से आशा और प्रत्याशा को निकाल कर उनके स्थान में चिरंतन नारकीय ज्वाला और यातना के प्रबल यंत्र झूठे घड़ कर जनता के सिर पर रक्खे गये हैं।

अनेक उपयोगी और श्रेष्ठ कार्यशक्तियों को अनेक सत्त्वों से वञ्चित रक्खा गया है, कइयों को सर्वथा दबाया गया है, और अनेकों को कष्टकर परीक्षा और पीड़ा सहन करनी पड़ी है। सारा बल धर्मांधता और स्वमताभिमान पर व्यय किया गया है। वास्तव में धर्म का काम ऐसा ही हो गया है।

कई प्रतिभाशाली विद्वानों ने, जिन्हें परमात्मा की ओर से निर्मल मस्तिष्क मिले हैं धर्म के इस विनाशजनक रूप को देखा है और इसके विरूद्ध आवाज उठाई है। अभी तक भी धर्म का ऐसा खिन्न दृश्य उपस्थित किया जा रहा है, जिससे अनेक मनुष्य इस समय भी धर्म के विरूद्ध विद्रोह करते हैं और ऐसे धर्म से घृणा करते हैं जोकि सच्चाई और उन्नति का भारी घातक है। जो श्रेष्ठ भावनायें और आनन्द सत्य धर्म से उत्पन्न होते हैं, जिन से जीवन रूपी भूमि उर्वरा होती है, वे वर्त्तमान काल से आवश्यक तौर पर संशयात्मक परन्तु निष्कपट, सत्य

के अन्वेष्टाओं को सर्वथा अज्ञात हैं।

क्या यह सब शोचनीय नहीं? क्या इस से कोई बेहतर वस्तु सम्भव नहीं? क्या हम अनिश्चित पर निष्कपट संशय के सागर पर डांवाडोल बहते फिरेंगे? क्या जीवन-रहस्य वस्तुतः ऐसा है कि उसका खुलना सम्भव नहीं? कदाचित् वस्तुओं के स्वरूप को समझना मनुष्य के भाग्य में नहीं बदा! यदि ऐसा ही है तो यह जीवन वस्तुतः एक शोकमय दृश्य बन जायेगा, इस संसार के दुःख और पीड़ायें सर्वथा असह्य हो जायेंगी।

परन्तु, सौभाग्य से, **उपयुक्त बातों का कारण सत्य धर्म से मनुष्य की अनभिज्ञता है** सत्य धर्म केवल एक मौखिक प्रतिज्ञा नहीं। यह कोई देवमाला नहीं। यह एक सजीव सार है। यह अत्यंत व्यावहारिक है। यह शुद्ध सत्य पर प्रतिष्ठित है। इसका आधार सर्व शक्तियों का तुल्य विकास और अपनी सत्ता को जानने की हमारी सर्वक्षमताओं का धार्म्मिक विस्तार है।

ईश्वरानुकूल जीवन व्यतीत करना ही धर्म-सत्यधर्म है, "हमारे परिणामों को घड़ने वाला एक परमेश्वर है हम उन्हें कैसे घड़ सकेंगे।

इस परमेश्वर के आस्तित्व की सिद्धि और अपने साथ हर समय और सब कहीं उसकी उपस्थिति का अनुभव करना धर्म का प्रथम पाठ है। प्रकृति के स्थिर नियम और अक्षय शक्तियां, उसके अनन्त रूप और दृश्य-चमत्कार "सुयोग" से नहीं बन गये, प्रत्युत इनका आधार प्रकृति में व्याप्त एक सदैव कर्मोद्युक्त और जंगम मूलतत्त्व है- यह भावना धर्म का आरम्भ है। जब मनुष्य इसका अनुभव कर लेता है, और पूर्ण चेतन अवस्था में आनन्द से यह विघोषित कर सकता है कि **" इस ब्रह्माण्ड में प्रत्युत सृष्टि के सारे मण्डल के प्रत्येक लोक में भी,**

एक अधिष्ठाता व्यापक है", तब वह आगे पग बढ़ाने, और व्यक्तिगत सुधार का पाठ सीखने के योग्य होता है परन्तु जब तक मनुष्य प्रकृति के क्षणिक रूपों और दृश्य-चमत्कारों को चीर कर प्रकृति के परमेश्वर तक पहुंचना नहीं सीखता वह व्यक्तिगत सुधार की शिक्षा प्राप्त कर नहीं सकता।

प्रकृति अपने नश्वर प्रलोभन और क्षणिक सौन्दर्य्य सब कहीं प्रचुरता के साथ बखेर रही है। मनुष्य उसके मोहिनी आकर्षणों और उच्छृङ्खल प्रलोभनों में आसानी से फँस कर नित्य, सनातन परमेश्वर को, जो कि उसकी बनाई हुई प्रत्येक नश्वर वस्तु में निवास करता और व्यापक है, भूल जाता है। मानव-मन, अपनी अविकसित और असंस्कृत अवस्था में, शीघ्र ही इस संसार के इन्द्रियभोग्य दृश्य-चमत्कार के बँधनों में जकड़ा जाता है। धन और सम्पत्ति का समुज्जवल प्रपंच, कुलीनता और पदवी का आडंबर, लक्ष्मी का अति प्रचुर बाहुल्य, सुख और समृद्धि की उच्छृङ्खल इन्द्रियाधीनता, ये सब नवयुवक और सरल मनुष्य को प्रायः डांवाडोल कर देते हैं, उसे संसारिक उच्चाकांक्षा के समुद्र में निमग्न कर देते हैं, और उसे पाप, घृणा, स्पर्धा, क्रोध और ईर्ष्या रूपी ऐहिक चिन्ताओं का शिकार बना देते हैं। मनुष्य इस प्रकार अपने नित्य जीवन के स्वार्थों के प्रति बहुत बार अंधा हो जाता है; जिससे उसे उस सच्चे आनन्द की प्राप्ति नहीं होती जो इस अद्‌भुत जगत् की ममता से पृथक् होकर, ब्रह्माण्ड के सर्वव्यापक परमेश्वर का, सारी सृष्टि में उसकी उदार कृपा के द्वारा, चिन्तन करने वाले भक्त के हृदय में प्रवेश करता है। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि मनुष्य को स्मरण दिलाया जाए कि यह संसार एक क्षणिक दृश्य है कि इन्द्रिय-सुख कभी स्थायी नहीं होते, कि ऐहिक जीवन एक ऐसा उद्यान है जिसमें कभी

फल नहीं लगते, और कि इस संसार में प्राप्त की हुई खाली उपाधियां, नाम, और प्रतिष्ठा चिरकाल तक न बने रहेंगे। नश्वर पदार्थों से प्रीति करना भारी भूल है। सनातन और नित्य पदार्थ पर ही हमारा ध्यान लगना चाहिए, उस से ही हमारा प्रेम होना चाहिए, उस में ही हमारी रुचि होनी चाहिए, और वही हमारी आकांक्षाओं का विषय होना चाहिए, क्योंकि तब ही सच्चा आनन्द सम्भव है।

हे मनुष्य! क्या तू इस संसार के पापों से, ऐहिक आडंबर और माया के इन्द्रजाल से दूर भागना चाहता है? क्या तू ईर्ष्या, क्रोध, मत्सरता, और विद्वेष से छुटकारा पाना चाहता है? क्या तू सांसारिक बंधनों के उद्वेग, चिन्ता, पीड़ा और प्रतिरोध से छूटना चाहता है? क्या तू सुख और शान्ति के निर्मल और नित्य उपभोग को ढूँढ़ता है? तब **" हे मनुष्य! इस नश्वर संसार के सभी विचारों को छोड़कर निर्मल सुख का उपभोग कर।"**

ऐसी भावना हो जाने पर धर्म-सच्चा धर्म-कैसा परमानन्द है! इस के पाठ उपयोगी और पांडित्यपूर्ण शिक्षाओं से भरे पूरे हैं। प्रकृति से प्रकृति के परमेश्वर के निकट जाने से हम इस संसार की नश्वरता पर विचार करना, और इससे अपनी ममता को हटा लेना सीखते हैं। इतना हो जाने पर हम एक पग और बढ़ाने के योग्य होते हैं। यह पग हमें प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तिगत पापनिवृत्ति तक ले जाता है। इस पापनिवृत्ति का निर्भर आवश्यक तौर पर न्याय के अनुभव पर है और न्याय का नियम मानवी प्रकृति में बहुत गहरा गड़ा हुआ है।

एक दिव्य तत्त्व सब को एक व्यापक विज्ञ दूरदृष्टि से सब के अत्यन्त मंगल के उद्देश्य से, शासित और मर्यादित कर रहा है। यह सर्वात्रिक दूरदृष्टि छोटे से छोटे परमाणु से लेकर बड़े से बड़े सूर्य तक

सब को जीवन प्रदान करती है, और उनके अपने-अपने काम के लिए एक को दूसरे के अनुरूप बनाती है, और यही सब का आत्यंतिक मंगल है। इस दूरदृष्टि को सब के आत्यंतिक मंगल के लिए काम करते हुए अनुभव करना, और इस दूरदृष्टि के स्पंदनों के साथ सहानुभावी कंपन का होना ही इस नियम का सब अनुभव है।

सब का आत्यंतिक मङ्गल उद्देश्य है। और प्रकृति की अद्‌भुत व्यवस्था एक ऐसी ईश्वरीय संस्था है जो इस उद्देश्य को वस्तुतः अद्‌भुत और श्रेष्ठ रीति से पूरा करती है। प्रकृति के सनातन, अविकार्य, और स्थिर नियम पूर्ण व्यवस्था की दिव्य संहिता हैं, वे ईश्वरीय तत्व के श्वास हैं और ब्रह्म के सनातन काल से सब को नियम और शासन में रखने, और रहने की विधियां हैं। परमेश्वर के पास प्रत्येक के कर्मों का लेखा रखने और उसकी चेष्टाओं की निगरानी करने के लिए कोई सावधान, जागरूक, प्रताड़क, कपट प्रबंधक, और बहुधा कपटी, घूँस खाने वाली पोलीस नहीं ताकि वह कहीं उसकी प्रजाओं की व्यापक शान्ति को भंग न कर दे। ईश्वरीय संस्था में ऐसी निर्बलताएं नहीं आ सकतीं। प्रत्येक की स्मृति ही उसकी अभ्रांत लेखा-लिखने वाली है, और विचक्षण इन्द्रियविन्यास जो प्रत्येक को दुःख और सुख का बोध कराता है सर्वव्यापक पोलीस है। इस पोलीस का काम दण्ड देना नहीं प्रत्युत शिक्षा देना और सुधारना है। उसकी कोई कचहरियां नहीं जहां अभियोगों का निर्णय होता हो, परन्तु सामाजिक संवेदन, हार्दिक भाव और अन्य चित्तक्षोभ मन के अभ्यान्तरिक कमरे हैं जहां कि तर्क नित्य विचार के सिंहासन पर बैठता है। यही सार्वत्रिक कला प्रकृति की संस्था में प्रयुक्त होती है। इसका उद्देश्य सब का आत्यंतिक मङ्गल होने के कारण इसकी व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि प्रत्येक का व्यक्तिगत मङ्गल सब के मङ्गल में ही है। अतएव प्रकृति के सनातन और स्थिर

नियम किसी विशेष अनुग्रह और व्यक्तिगत पृथक् अधिकारों को नहीं मानते, न ही वे व्यक्तियों की पूजा करते हैं। प्रकृति की सारी तरङ्ग एक मार्ग पर बहती है, और वह मार्ग है जनता का कल्याण। इस सामान्य क्रम को तोड़ने वाला कोई भी व्यक्ति इस अपराध का फल भोगे बिना रह नहीं सकता। इस फल के कारण वह सामान्य क्रम से बाहर फेंक दिया जाता है, जिससे सामान्य तरङ्ग एक घड़ी के लिए प्रशान्त रहे, और, यदि वह सार्वत्रिक समष्टि के स्वार्थों के अधीन होना नहीं चाहता तो अपने आप को शुद्ध और पवित्र बना ले।

वह न्याय-नियम जो प्रत्येक प्राणी को उसके पड़ोसी के साथ शान्ति-मय सम्बंध रखता है; और जो उसे उसकी अपनी आत्मा की पवित्रता का आदर्श बताता है वह उसके लिए अपने पड़ोसियों के साथ शान्तिपूर्वक और ब्राह्म जगत् के साथ एक स्वर होकर रहने का स्वयं-निर्वाचित और सुखकर धर्म भी आवश्यक ठहराता है। इस साम्य के बिगड़ जाने से ही विरोध, रोग, दु:ख, युद्ध और विध्वंस उत्पन्न होते हैं। इसलिए यदि कोई व्यक्ति सामान्य शान्ति को भङ्ग करने का यत्न करेगा तो इस अतिक्रम का अटल फल अवश्य उसे भोगना पड़ेगा। परन्तु उस व्यक्ति की अवस्था सर्वथा भिन्न है जो बुद्धिपूर्वक और जान बूझकर उस मार्ग को ग्रहण करता है जिसका परमेश्वर ने सब के लिए नियम और व्यवस्था की है। उसका मार्ग, आरम्भ में कठिन होने पर भी, उसे सीधा व्यक्तिगत आनन्द और समाजिक अभ्युदय तक ले जाता है। उसका मार्ग सुख और शान्ति का मार्ग है। कोई ईर्ष्या-जन्म अन्तर्दाह, कोई कलान्तिकर स्पर्धा, घृणा या तिरस्कार का कोई भाव, कोई निराशा या निष्फलता, और अपनी परिस्थिति के साथ कोई असन्तोष उसे धर्म मार्ग से विचलित होने के लिए प्रेरित नहीं करता और न ही उसके व्यक्तिगत स्वास्थ्य और

व्यक्तिगत अस्तित्व के मंदिर को लूटता है। इसके विपरीत, उसके सामाजिक और भ्रातृक भाव पूरे तौर पर भर कर परितृप्त हो जाते हैं। उसकी नि:स्वार्थ प्रकृति उसे एक ओर साधारण दु:ख से और दूसरी ओर स्वार्थपरता से ऊपर उठा देती है; उसका तर्क निर्मल, और उस का संकल्प शुद्ध और पवित्र हो जाता है। क्योंकि, एक बार मनुष्य को यह समझ लेने दो कि एक विज्ञ परमेश्वर हमारे चारों ओर के अनन्त ब्रह्मण्ड के कामों को व्यापक नियमों द्वारा व्यवस्थित करता है, एक बार उसे इन व्यापक नियमों को भली-प्रकार समझने, जानने, पहचानने और अपने हृदय के भीतर इस परमेश्वर के आस्तित्व का ऐसा पूर्णतया अनुभव कर लेने दो कि वह फिर उसके जीवन में कभी एक क्षण के लिए भी न भूले, उसे एक बार इस अवस्था में प्रवेश कर लेने दो, फिर वह दूसरों की आत्मा के साथ अपनी आत्मा की एकता का अनुभव करने लगेगा। वह बाकी सब के साथ अपने आपको सुखी पायेगा। तब मनुष्यमात्र के साथ सच्चे भ्रातृभाव का अनुभव होगा क्योंकि यह ज्ञात हो जायेगा कि हमारा आनन्द दूसरों को आनंदित करने में, और हमारा सुख दूसरों को सुखी बनाने में है।

सार्वत्रिक न्याय (जो मनुष्यमात्र को भाई समझता है, और मनुष्य को बाध्य करता है कि वह अपने स्वार्थ और कर्तव्य में सुस्वरता उत्पन्न करे, ताकि ऐसा न करने से वह कहीं सार्वत्रिक मङ्गल तक ले जाने वाली प्राकृतिक धाराओं की गति का व्यतिक्रम न कर दे) का **यह अनुभव ही मनुष्य को दूसरों के अधिकारों और स्वाधीनताओं को छीनने से सहर्ष और जान बूझकर रोके रख सकता है।** केवल इसी प्रकार ही, सार्वत्रिक न्याय के सूत्रों के अनुसार, यह यथार्थ रीति से यह विघोषित कर सकता है कि **"किसी जीवित प्राणी के धन का लोभ**

मत कर।" केवल तभी, इस से पहले नहीं, सच्चा व्यक्तिगत सुधार सम्भव है।

परन्तु धार्मिक उन्नति यहां ही समाप्त नहीं हो जाती। केवल अपने आप को ऐहिक जीवन के संतापों से पृथक रखना, मानो एक प्रकार से, इस संसार के नश्वर चमत्कार और वृथाडंबर से अप्रभावित रहना, या अधिक से अधिक दूसरों के अधिकारों और स्वाधीनताओं को न छीनना, धर्म का नकारात्मक या निषेधात्मक पक्ष है। इसमें और पापात्मक अनुद्यम घोर, उदासीनता, उपेक्षाकारी स्तब्धता, और प्रोत्साहक के मौन में कुछ प्रभेद नहीं। धर्म इतना सुनिश्चित् है कि वह केवल इन निषेधात्मक कर्तव्यों तक ही परिमित नहीं रहता। मनुष्य की प्रबल ओज और सोत्साह क्षमताओं से सम्पन्न अद्भुत रचना की कुछ अधिक अलँघनीय याचनाएं हैं; वह किसी उच्चतर प्रयोजनों के अस्तित्व की ओर निर्देश करती है, और केवल निषेधात्मक नीति की आज्ञाओं से ही चुप नहीं हो सकती। क्योंकि,केवल शान्त उपभोग के लिए (दूसरों के उपभोगों का कभी विरोध न करके) एक निष्क्रिय रचना सर्वथा पर्य्याप्त थी। परन्तु मनुष्य में कर्मोद्युक्त शक्तियां, स्वभावसिद्ध क्षमताएं, और उत्तेजक तत्व हैं, और ये सब व्यर्थ नहीं। वे उसे अपने और अपने पड़ोसियों के निमित्त सुख और शान्ति प्राप्त करने के यशस्कर प्रयोजन के लिए अपनी सारी शारीरिक और मानसिक शक्तियों के अनवरत उपयोग और प्रबल नियोग का संकेत करते हैं। प्रकृति का नियम उद्योगिता है आलस्य नहीं। जड़ और चेतन प्रकृति उत्साहशील बल और अशान्त उल्लास से परिपूर्ण है। कोई भी पदार्थ निरुद्यम नहीं। चिउँटी

सदा काम में लगी रहती है; यह पृथ्वी जिस पर हम रहते हैं सदा गिर्दागिर्द घूमती है, बेल बूटे सदा अपनी वृद्धि में लगे रहते हैं, पवन सदा चक्कर लगाता है, और जल सदा निकलता और बहता है! अपने चारों ओर दृष्टि डालो और फिर बताओ कि प्रकृति किस धर्म का उपदेश देती, और कौनसी शिक्षाओं का प्रचार करती है? प्रकृति के क्षेत्र में अन्तर्निरूढ़ शक्तियां अपनी उपस्थिति को प्रकट करने में सदा लगी हुई हैं।

प्रकृति केवल एक धर्म का उपदेश देती है। और वह धर्म है प्रत्येक के और सब के सुख, स्वास्थ्य, मङ्गल और सद्गति के लिए कर्म; लगातार, अनथक और प्रबल कर्म का करना। **"तब हे मनुष्य! उत्तम कर्म करता हुआ, सौ वर्ष तक, अपने पड़ोसियों के साथ शान्तिपूर्वक जीने की अभिलाषा कर, केवल इसी प्रकार, और किसी तरह नहीं, तेरे कर्म तुझे दूषित न करेंगे।"**

जो मनुष्य निरन्तर उपयोगी उद्योगिता का जीवन व्यतीत करता है उसके लिए यह संसार कैसा सुन्दर है! यह प्रचुर आनन्द की एक खान है। इसे केवल खोदने और अपने अधिकार में करने की ही आवश्यकता है। उसके लिए मानवीय कार्यशक्तियां क्या हैं? सुखी और कृतार्थ करने की शक्ति रखने वाली, प्रशान्त और तरोताजा करने वाला सङ्गीत, उच्च बनाने और आश्रय देने वाले मनोधर्म, उञ्चा चढ़ने और उड़ने वाले विचार, वे और ऐसी ही और शक्तियां गुप्त सौन्दर्य्यों से भरी पड़ी हैं। प्रत्येक इन्द्रिय पवित्र और निर्मल है क्योंकि इसका काम श्रेष्ठ और उच्च है। क्या यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति मानुषी रचना

की इस सुन्दरता की प्रशंसा करे, इसके महत्व को पहचाने, इसकी पवित्रता को समझे, इसकी शुद्धि की कामना करे और फिर भी स्वयं अप्रिय, असंगत, और कुरूप रहे? नहीं, वह अब आन्तरिक शुद्धि की सुन्दरता और अन्तर्वर्ती पुण्यशीलता की दीप्ति से इतना अभिज्ञ है कि वह गन्दी विषयासक्ति के अंधकार और नैतिक बुढ़ापे के नरक में कभी पड़ा नहीं रह सकता। वह प्रयोजन की पवित्रता, कर्म की साधुता, और जीवन की चारूता रूपी आन्तरिक सौन्दर्य्यों को ही सब से उत्तम समझता है। वह इस आन्तरिक सौन्दर्य को नष्ट करके अपने आपको गिरा नहीं सकता, क्योंकि वह इस सच्चाई को जानता है कि **"वे सब मनुष्य जो अपने आत्मा की पवित्रता को नष्ट करते हैं, निश्चय ही, मरने के पश्चात् उन लोकों में जाते हैं जहां कि बुरी आत्मायें निवास करती हैं, और जहां पूर्ण अंधकार छाया हुआ है।"** प्रत्युत वह अपने अस्तित्व की प्रशस्त क्षमताओं पर और जीवन के बहुमूल्य दान पर हर्ष से भर जाता है, और ईश्वर की दी हुई तर्क शक्ति पर कृतज्ञता का प्रकाश है, और अपनी नैतिक प्रकृति के लिए ईश्वर का धन्यवाद करता है। उसकी आत्मा कृतज्ञता के साथ उस ईश्वर की ओर झुक जाती है जो कि अनन्त देश में व्यापक है, जो आकाश के मण्डलों और पृथ्वी के कीड़ों को जिलाता है और उनके आगामी युग युगान्तर तक निरन्तर कर्म करते रहने की व्यवस्था करता है। क्या इस विस्तृत ब्रह्माण्ड में कोई ऐसा पदार्थ है जो कृतज्ञ मनुष्य को उस चक्रवर्ती राजा रूपी परमेश्वर का गुणानुवाद करने का प्रत्यादेश नहीं करता जो कि चारों ओर सौन्दर्य और सुख की वर्षा कर रहा है? उसके प्रति अपनी

कृतज्ञता और परतन्त्रता को स्वीकार करते हुए हमारी आत्माएं पूजा भाव से उसकी ओर जाती हैं जो कि **"नित्य, सनातन, विज्ञ आत्मा, मन से भी बढ़कर शक्तिशाली है।"** यह सत्य है कि **"भौतिक इन्द्रियां उसका अनुभव नहीं कर सकती"** परन्तु हृदय दूरदृष्टि रूपी सुन्दर ज्ञान के लिए कृतज्ञ होकर पूजा भाव से झुक जाता है। गँध, सौरभ, वर्ण, शब्द और अन्य बाह्य संस्कार बाहरी जगत् की ओर झुके हुए मनुष्य को प्रभावित करके चाहे उसे इन सब का स्रोत भुला दें, परन्तु वह मनुष्य जिसकी आत्मा में सौन्दर्य्य खिला हुआ है और विनीत पूजा के सुगंधित धूप के साथ कृतज्ञता का भाव उठता है, वह इन वस्तुओं को चीर कर आगे देखने से नहीं रूक सकता। वह **"अपनी इन्द्रियों को उनके स्वाभाविक मार्ग से हटा लेता है और परमात्मा की सब कहीं विद्यमानता अनुभव करता है।"** संसार के भ्रामक दृश्य-चमत्कार अब उसे धोखा नहीं देते। इन्द्रियभोग्य प्रलोभन और बाह्य आडम्बर उसकी विस्तृत और विकसित दृष्टि में धूलि नहीं डाल सकते। बाह्य कलह से बहुत दूर, और अपने शान्त मन के अन्दर, वह उस परमात्मा का अनुभव करता है जो **"सब को हिलाता है परन्तु आप नहीं हिलता।"** हां, संसार में लिप्त, विकारों के वशीभूत, और अविद्या के जाल में फँसे हुए मनुष्यों के लिए वह चाहे दूर हो, **"परन्तु ज्ञानियों के लिए वह निकट है,"** क्योंकि **"वह सब के अन्दर और बाहर व्यापक है।"** जिस मन ने इस प्रकार कृतज्ञता का भाव ग्रहण कर लिया उसके लिए विरोध, असंतोष, और संक्षोभ कोई नहीं रहता। क्योंकि मत्सरता, घृणा, ईर्ष्या, तिरस्कार और अन्य विरोध द्वंद्वभाव के भिन्न-भिन्न रूप ही तो हैं। जब

मनुष्य इस बात का अनुभव कर ले कि प्रत्येक आत्मा एक ही परमेश्वर के सजातीय प्रभावों से चेष्टा करता है, इस विस्तृत ब्राह्मण्ड का प्रत्येक परमाणु एक ही श्वास से जीवन पाता, और प्रत्येक व्यक्तिगत हृदय अभिन्न आकाश-ज्वाला से प्रदीप्त होता है तो फिर द्वंद्वभाव कैसे रह सकता है? समस्त प्रभेद मिट जाते हैं। मनुष्य जाति एक परिवार हो जाती है। सब भाई हो जाते हैं। फिर कोई वैर, कोई स्पर्धा, कोई मत्सरता, और कोई विरोध रह नहीं जाता। ऐसी मानसिक उन्नति प्राप्त कर लेने पर मनुष्य सहर्ष **''सब भूतों को परमेश्वर के अन्दर स्थित और परमेश्वर को सब भूतों में व्यापक''** समझने लगता है, और वह **''किसी भी जीव को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देख सकता।''** न ही **"मोह और शोक उसे पकड़ सकते हैं"** क्योंकि वह अपनी बुद्धि द्वारा **''सब भूतों में एक आत्मा को निवास करते देखता है।''**

जिस मनुष्य का अनुभव इस ब्रह्माण्ड की अन्तरात्मा तक पहुँचता है उसके प्रेरक पूजा, प्रशंसा और प्रेम के भाव ही होते हैं। जब मनुष्य इस बात पर विचार करता है कि अपने से श्रेष्ठ व्यक्तियों के सामने, (जो यद्यपि श्रेष्ठ हैं पर भ्रान्त और परिमित हैं, और दुःख, अविद्या, निष्फलता, निर्बलता और इनके परिणामों के अधीन हैं) उसके अन्दर कैसा पूजा का भाव उत्पन्न हो जाता है तो उसे अपने अन्दर उसके लिए जो **''सब भूतों पर छाया हुआ है, जो सर्वथा आत्मा ही आत्मा है, जिसका कोई आकार नहीं; जिसका कोई अनुभव या इन्द्रियविन्यास के योग्य सूक्ष्म या स्थूल शरीर नहीं; जो बुद्धि का राजा, स्वयंभू, शुद्ध, पूर्ण, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है,''**-दयालु

पिता **''जो सनातन काल से भूतों के लिए उनके अपने अपने काम नियत करता आया है,''** अधिक सम्मान, प्रशंसा, और पूजा का भाव उत्पन्न हुआ देखकर आश्चर्य नहीं होता।

धन्य हैं वे लोग जिन्हें इस परम देव, इस सर्वव्यापक परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त है। उन लोगों के हृदय-मंदिर आनंद से परिपूर्ण हैं जो इस सत्य स्वरूप की विद्यमानता का अनुभव करते हैं। उनके लिए जीवन एक भारी विलासिता, स्थिर सुख, और सनातन उपभोग और वृद्धि है। उन्होंने मृत्यु को जीतकर कुचल डाला है। परन्तु वे लोग अति दु:खी हैं जो कि चारों ओर से अविद्या के जाल में फँसे हुए हैं। इस ब्राह्मण्ड के विधाता को न जानने वाला अज्ञानी क्या उन्नति कर सकता है? देखो यह कैसा विध्वंस उत्पन्न करता है। अज्ञान से बढ़कर और कोई भी वस्तु भयानक नहीं। किसी ने सत्य कहा है कि जब मनुष्य को एक बार अपने अज्ञान का पता लग जाता है तो फिर वह उसे सहन नहीं कर सकता। अतएव अज्ञान का बोध होते ही ज्ञान का आरम्भ हो जाता है। बुद्धिमान सुकरात ने सर्वथा ठीक कहा था कि "मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि मैं कुछ नहीं जानता।" सारा विरोध अविद्या से ही उत्पन्न होता है। देखिए इसका कैसा भीषण रूप है। अमर पतञ्जलि मुनि कहते हैं-**''अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्य शुचिसुखात्म ख्यातिरविद्या''** अज्ञान की भयानक शक्ति चौगुनी है। एक तो इससे दीन अज्ञानी मनुष्य यह समझने लगता है कि यह दृश्य-श्राव्य ब्रह्माण्ड, जिसका प्रत्येक तत्त्व विनाशशील है, सदा बना रहेगा, और कि यह स्थूल भौतिक शरीर, यह नश्वर काया, ही एक ऐसी वस्तु है जो मृत्यु के अनन्तर रहती है।

दूसरे इससे उसके मन में यह भयानक और मिथ्या प्रत्यय बैठ जाता है कि नारी-सौन्दर्य्य, जिसे कि कई तत्त्वदर्शी मूक वंचक के नाम से पुकारते हैं, असत्य का व्यापारी, चोरी, और ऐसी ही और बातें जिनका कि सार ही मलिनता और गन्दगी है, शुद्ध और वाञ्छनीय उपभोग हैं। तीसरे यह उसे दु:ख और पीड़ा के उस सागर में विकार और विषयासक्ति के उस समुद्र में डुबा देता है जिनकी तृप्ति को ही अंधा अज्ञानी मनुष्य सुख और आनन्द की प्राप्ति समझता है। चौथे, अविद्या में फंसे हुए मनुष्य को आत्मा के स्वरूप का कुछ भी पता नहीं होता। वह इस भौतिक गुरु, और दृश्य वस्तु को ही आत्मा समझता है। यह है अविद्या का स्वरूप; इसलिए यदि इसे इन्द्रियों का जीवन कहा जाय तो झूठ न होगा, क्योंकि इस इन्द्रिय-सुख से बढ़कर और कोई सुख, इन्द्रिय-जीवन से बढ़कर और कोई जीवन, और इन्द्रियगोचर संसार से परे और कोई संसार नहीं मानता। निस्सन्देह **"वे लोग अतिदु:खी हैं जो अविद्या की उपासना करते हैं, परन्तु उन से भी बढ़कर दु:खी वे हैं जो विद्या पर गर्व करते हैं।"** क्योंकि वह बुद्धिमान नहीं जो अधिक जानने का गर्व करता है, जो अपने मस्तिष्क में पुस्तकों का एक ढेर; या अपनी समृति में शब्दों और वाक्यों का एक समूह; या अपनी रसना में विद्रूपात्मक शब्द-संग्रह की बौछाड़, या अपने प्रकीर्ण भण्डार में, जिसे मन कहते हैं, उस द्रव्य का एक याचित शास्त्रागार (जो मानसिक युद्ध में, जिसे सामान्यत: विवाद कहते हैं, विजय प्राप्ति के लिए अत्युपयोगी है) उठाने का दावा करता है। प्रत्युत वही मनुष्य बुद्धिमान है जिस के भाव, विचार, जीवन, और कर्म्म अच्छे हैं। ज्ञान और अविद्या का भेद

विपर्ययों का भेद है। ज्ञान नित्य जीवन, सनातन सुख, और सदैव की शान्ति है। अविद्या इस संसार का सारा दुःख, सारा पाप, सारी व्याधि, और सारा अनिष्ट है। ज्ञान और अविद्या में जितना भेद है उस से बढ़कर और भेद संसार में सम्भव नहीं। जिन लोगों ने यह घोषणा की थी कि **"अविद्या जो कि इन्द्रियों का जीवन है, एक परिणाम उत्पन्न करती है, और विद्या का, जो कि आत्मा का जीवन है, ठीक उसके विपरीत परिणाम होता है,"** वे भ्रान्त न थे।

परन्तु वह बुद्धिमान् मनुष्य धन्य है जो बुराई से भलाई और विष से अमृत निकालता है। ज्ञानी पुरुष स्वयम् इन्द्रियों से पवित्र काम लेता है। यह काम कर्म्मोपासना, अर्थात् वह सुव्यवस्थित, और पुण्यशीलता के अनुसार मर्यादित धार्मिक जीवन है जो बंधन, पाप, दुःख और मृत्यु से मुक्ति दिलाता है। हाँ, ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों से आज्ञाकारिता, विकारों से पुण्यशीलता, मनोभावों से उन्नति, अविद्या से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इसका फल चिरस्थायी परमानन्द और अमरत्व की प्राप्ति होता है। ऐसे ही पुरुष के विषय में कहा गया है कि **"जो मनुष्य दोनों का अनुभव कर लेता है, वह इन्द्रियों के जीवन के कारण शारीरिक मृत्यु का उल्लङ्घन कर के आत्मा के जीवन के द्वारा अमरत्व को प्राप्त हो जाता है।"**

अविद्या के शिकार अनेक हैं और इसके धारण किए हुए रूप बड़े भयानक हैं। उन में से एक वह है, जिसे, कोई और अच्छा नाम न मिलने के कारण, वैज्ञानिक नास्तिकता कह सकते हैं। यह परमाणुओं की सर्वशक्तिमत्ता में विश्वास रखती है। बाहरी पदार्थों की ओर झुका

हुआ वैज्ञानिक मनुष्य, जिस का मन प्रकृति और गति की भावनाओं के साथ, और गतिशास्त्र तथा यंत्रविद्याविषयक विवरणों के साथ भरा हुआ है, जो अपनी इन्द्रियों के प्रमाण के बिना कभी भी किसी बात पर विश्वास नहीं करता, कच्चे विश्लेषण का काम आरम्भ करता है। वह जीव जन्तुओं, नाड़ियों, पठ्टों, और कोषसमूहों को अनेक बार चीरता फाड़ता और उनकी सूक्ष्म परीक्षा करता है, परन्तु मस्तिष्क के सारे उलझन में, रक्त-वाहिनी नाड़ियों के सारे जटिल जाल में, उसे विज्ञ परमात्मा का कोई चिन्ह नहीं मिलता, सब गति या गतिवान् प्रकृति ही देख पड़ती है। वह अपनी शरीरशास्त्र-विषयक खोजें आरम्भ करता है और सब कहीं रसायनिक और नाड़ीगत क्रिया पर आकर समाप्त कर देता है। अब वह फिर प्रकृति के सेंन्द्रिय विभाग (Organic Department) को छोड़कर प्रत्येक कठिन, तरल, और वाष्पमय पदार्थ को कभी गुठाली में, कभी भबके में, कभी ताप से, कभी बिजली से, कहीं रसायनिक पदार्थों द्वारा और कहीं प्रतिक्रियाओं द्वारा बारम्बार तोड़ता फोड़ता और पृथक-पृथक करता है, परन्तु उसे सब कहीं परमाणु, उनकी रसानयन-प्रीतियां, और विशेष भार ही देख पड़ते हैं, परमात्मा का कहीं भी पता नहीं चलता। प्रत्यक्ष अवलोकन की सुनिश्चित साक्षी पर, और व्यक्तिगत अनुभव की अभ्रान्त वेदी से, ज्ञान की गर्वित विभूति के साथ सिर को उठाये हुए, और प्राकृतिक शक्तियों के स्नायुजन्य बल के साथ मेरुदण्ड को सीधा अकड़ाए हुए, वह एक विज्ञ, सर्वव्यापक, और सब चेष्टा कराने वाले सूत्र के अस्तित्व में विश्वासरूपी अशिष्ठ सिद्धान्त को अन्तिम तिलाञ्जलि दे देता है।

परमाणुओं के बल में उसका अपार विश्वास हो जाता है। वह उन्हें ऐसे सरल और अत्यंत सूक्ष्म पदार्थ समझता है जिनका कि व्यवच्छेद और पृथकरण नहीं हो सकता, जो सनातन, और असृष्ट हैं, और जो ऐसी गतियाँ रखते हैं कि उनकी कल्पना भी नहीं हो सकती। ये गतियां उनको किसी ने दी नहीं प्रत्युत उनमें अस्तित्व की आवश्यकता के कारण स्वाभाविक हैं। इन परमाणु-शक्तियों के विस्तृत गड़बड़ काम में विशेष परमाणु निर्वाचन और देवगति के द्वारा मिले, उनका पारस्परिक संयोग हुआ, और उन्होंने अस्थायी रचना ग्रहण करके चेतन जीवन के लक्षण प्रकट किए। जीवन को इस बीज ने, सर्वथा अचिन्तित और अज्ञेय अवस्थाओं के कारण, अनुकूल दशाओं में, (सुयोग या निर्वाचन के कारण अनुकूल), अपना विस्तार और वृद्धि की। उस समय जीवन के लिए भारी संग्राम हो रहा था। इस संग्राम में कई सौभाग्य से सेन्द्रिय-प्राणी उसी परमाणु-प्रलय में दुबारा वापस धकेल दिए गये जिससे कि वे उत्पन्न हुए थे। यह निर्वाण कहलाता है। परन्तु कुछ सौभाग्यशील सेंद्रिय जीव (योग्यता, पात्रता, या सङ्कल्प के कारण सौभाग्यशील नहीं, प्रत्युत किसी न किसी तरह से भाग्यशील) इस भयानक विपत्ति से बच रहे और बढ़े फूले। उनके इन्द्रियविन्यास में परिवर्तन और विकास द्वारा नवीन इन्द्रियां उत्पन्न हो गई। फिर उनमें और परिवर्तन और परिवर्धन होता गया, यहाँ तक कि मनुष्य नामक जीव का आविर्भाव हुआ। अब मनुष्य, परमाणुओं के आकस्मिक संयोग से बना हुआ, यह मनुष्य, अपने तप्त मस्तिष्क के साथ, परमेश्वर और अमरत्व के निर्बल सिद्धान्तों को छोड़ रहा है। क्या कोई समझदार मनुष्य

ऐसे सिद्धान्तों में विश्वास रख सकता है? हे ब्रह्मज्ञानी! रेत की नींव पर धर्म्म का भवन खड़ा करने के तेरे यत्न निष्फल हैं! मनुष्य उसी अधम धूलि में वापस लौट जायगा जिस से वह उत्पन्न हुआ था।

ऐसी है वैज्ञानिक नास्तिकता। सब कुछ अनिश्चित और अविश्वास्य है। जीवन उन प्रबल पहियों की रगड़ से उत्पन्न हुई एक आकस्मिक चिङ्गारी मात्र है जिन की अँधी घूमने वाली गति से ब्रह्माण्ड के दृश्य-चमत्कार उत्पन्न होते हैं। भविष्यत्काल की कोई आशा नहीं, पीड़ित पुण्यात्माओं या हताश न्यायाभिलाषियों के लिए परकाल में कोई सान्त्वना नहीं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि सर्वशक्तिमान् परमाणुओं का उपासक अधार्मिकता और दुराचार के समुद्र में सिर के बल कूद कर सारे न्याय को बिना किसी वेदना के पाँव तले रोंदता है, बिना किसी नि:श्वास के सारे सद्गुणों को दबाता है, और मनुष्य-प्रकृति में जो कुछ श्रेष्ठ और उत्कर्षकारी है उस के खण्डहर पर अपने साहसिकता का तत्त्वज्ञान खड़ा करता है। वह अपने कर्म्मों में, और अपने भावों में साहसिक हो जाता है। या कदाचित तत्त्वज्ञान उसका समर्पण का तत्त्वज्ञान है। साहसिक हो या समर्पित, इसमें मानवीय महात्म्य के साथ नृंशस अत्याचार होने के चिन्ह हैं, और मनुष्य-प्रकृति के साथ अत्याचार होने की शेष सब अवस्थाओं के समान यहाँ भी मनुष्य क्षुब्द, अशान्त, उदासीन, उद्विग्न, जड़ या अपने आप से सर्वथा अचेत हो जाता है। यद्यपि वैज्ञानिक नास्तिकता का यह अन्तिम रूप विपद् युक्त है, तथापि इस का एक कोमल रूप भी है जोकि एक निश्चित और एक अत्युश्च दर्जे की मृत्यु के अनुरूप है। क्योंकि

वैज्ञानिक नास्तिक का कम से कम नियमों के या प्रकृति के क्रम के अपरिवर्तनीय और स्थिर स्वरूप में बड़ा दृढ़ विश्वास होता है। वह मूढ़विश्वासी नहीं। कार्य्य जगत् में वह कम से कम पारंगत है। उसका आन्तरिक जीवन चाहे-अशान्त और दु:खमय ही हो पर उसका बाह्य जीवन, निस्सन्देह, पूर्ण सफलता का जीवन है। परन्तु उस मनुष्य की अवस्था बहुत भिन्न है जिसे अविद्या के कारण, न तो इस ब्रह्माण्ड के विज्ञ शासक की भावना है और न इस ब्रह्माण्ड में किसी नियम या किसी क्रम की नियत कल्पना है, परन्तु जो एकेश्वरवादी के उत्कर्षकारी विश्वास या एक नास्तिक की स्वाभविक पराधीनता का स्थान पृथ्वी जैसे तत्त्वों या पत्थर, वृक्ष, प्रत्युत नर-देह जैसे पदार्थों की नीच, क्षुद्र और अपकृष्ट पूजा को देता है। ऐसी ही नीच और अपकृष्ट नास्तिकता से संसार भरा पड़ा है। ईसाइयों की मनुष्यपूजा, मुसलमानों की स्थान पूजा, पौत्तलिकों की मूर्ति पूजा, वेदान्तियों की मायावाद, और हिन्दुओं का अनेकेश्वरवाद; और वह सारी धर्मोघता, स्वमताभिमान, सांप्रदायिक पक्षपात्, असहिष्णुता, और धर्मोन्माद जिन के साथ कि संसार का इतिहास इस प्रकार भरा पड़ा है, मनुष्य समाज की दु:खमय पतित अवस्था का फल और स्थायी प्रमाण हैं। दृश्य पदार्थों की पूजा से उत्पन्न होने वाले अनिष्टों की गणना नहीं हो सकती। इस लिए यह कथन सर्वथा सत्य है कि **"वे लोग महादु:खी हैं जो परमाणुओं को जगत् का निमित्त कारण समझकर पूजते हैं; परन्तु उन से भी बढ़कर दु:खी वे हैं जो परमाणुओं से बने हुए दृश्य पदार्थों की उपासना करते हैं।"**

वैज्ञानिक नास्तिकता और दृश्य पदार्थों की पूजा के नाना रूप सर्वथा भिन्न-भिन्न परिणाम उत्पन्न करते हैं। पर ज्ञान के द्वारा इनसे भी काम लिया जा सकता है, और उस समय ये पहले की सी घृणोत्पादक वस्तुएं नहीं रहते। ज्ञान का प्रबल हाथ दृश्य-पदार्थों से वह इन्द्रिय-शिक्षा और हितकर उपयोग निकालता है जो कि सारे आन्तरिक विकास का प्राथमिक मूल और दृढ़ आधार-शिला है। इस प्रकार मनुष्य का जीवन-काल एक रम्य, शिक्षाप्रद, और बलवर्धक, यात्रा में परिवर्तित हो जाता है। यह यात्रा मृत्यु के अदृश्य प्रवेश द्वारों में से सनातन शान्ति तक ले जाती है। न केवल ब्रह्माण्ड की दृश्य सामग्री ही इस प्रकार भविष्य के लिए प्रचुर और उपयोगी भण्डार बन जाती है, प्रत्युत अदृश्य और तोड़ फोड़ के अयोग्य परमाणु भी, ज्ञान के हाथ के स्पर्श से, सर्वशक्तिमान विधाता की शक्ति का आसन दीखने लगते हैं। परमाणु वे वाहन मात्र हैं जिनके द्वारा परमेश्वर दृश्य पदार्थों में स्थायी शक्ति और जीवन का संचार करता है। इस प्रकार **"जो मनुष्य दोनों का अनुभव कर लेता है, वह मृत्यु के उपरान्त, जो कि दृश्य पदार्थों की उपासना का फल है, अमरत्व का, जो कि परमाणुओं में प्रकट होने वाली दिव्य शक्ति के अनुभव का फल है, उपभोग करता है।"**

आओ यहाँ कुछ ठहर कर उस उच्चपद की परीक्षा करें जिस पर कि हम चढ़ चुके हैं। एक तो ब्रह्माण्ड का चक्रवर्ती राजा, परमेश्वर है, जो कि सब में व्यापक, सब का न्यायकारी, प्रत्येक के लिए उसका अपना अपना काम नियत करने वाला है। इधर एक मनुष्य प्रबल,

कर्मोद्युक्त कार्यशक्ति, ओजस्वी क्षमता, और सर्व-साधक उद्यम से सम्पन्न है। वे उसे मिले हुए कार्य को पूरा करने के लिए पर्याप्त हैं। उधर ऐसा प्रशस्त, ऐसा सुन्दर, ऐसा चित्ताकर्षक, ऐसा उपयोगी, ऐसा हितकर, और ऐसा सुखर ब्रह्माण्ड है कि सब दानों के परमदाता की ओर अत्यंत कृतज्ञता के साथ दृश्य उठता है **"हे जगत् के प्रतिपालक! सच्चे सूर्य के उस मुख पर से आवरण को हटा दे जो कि अब सुवर्णीय प्रकाश के परदे के भीतर छिपा हुआ है, जिससे हम सत्य को देखें और अपने धर्म्म को पहचानें। हे ऋषियों के भी महर्षि, रक्षक, शासक, सनातन प्रकाश, और सृष्टि के प्राण! अपनी किरणों को इकट्ठा कर, जिससे मैं तेरे परमानन्द से पूर्ण तेजोमय रूप का अनुभव करने में समर्थ होऊँ। यही मेरी सच्ची प्रार्थना है।"** अद्भुत है वह अमर जीवन जो तू दान देता है, आश्चर्य है वह न्याय जो तू करता है। स्थूल शरीर से अमर सूक्ष्म शरीर के उत्पन्न करने की रीति कैसी श्रेष्ठ है। क्योंकि, मृत्यु के उपरान्त भी, तू हमें ऐसे लोक में बसाता है जिसके उपभोग कि उन्हीं बीजों के फल हैं जो कि इस लोक में हमने अपने कर्म्मों के रूप में बोये हैं।

"हे ज्ञानस्वरूप! आप ज्ञान के स्रोत हैं। हमारे अन्दर अपना ज्ञान फूंकिये, हमें न्यायपरता की ओर ले जाइये, और हमारे सारे दुर्गुणों को दूर कर दीजिये। इस प्रयोजन से हम बारम्बार आपकी स्तुति और उपासना करते हैं।"